Anusandhanvallari
Vol 2025, No.1
January 2025
ISSN 2229-3388

हिन्दी दलित उपन्यासों में धार्मिक चेतना

शोधार्थी - जुगेन्द्र सिंह
शोध निर्देशिका- डॉ. सोनिया यादव
मंगलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़, उ.प्र.
Email: jugendrasinghchaudhary69@gmail.com

सारांश:

भारतीय समाज में धर्माश्रित सत्ता के अन्तर्गत दलित, गरीब और पिछड़े वर्ग के अशिक्षित लोगों को समानता और सदभाव के साथ जीवन यापन करने के लिए; सनातन धर्म के वैचारिक स्रोत से हिन्दुओं को सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करने का कार्य ऋषि, मुनि, तपस्वी, वेदाचार्य, सन्त, गुरू और ज्ञानी पंडित करेंगे, तभी संभव हो सकेगा। अन्यथा समाज में दलितों के जीवन में हुए सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक शोषण, अन्याय और अत्याचार के खिलाफ विद्रोह की भावना दलित चेतना के रूप में अभिव्यक्त होती रहेगी। यही दलित चेतना भारतीय समाज की वर्ण व्यवस्था के विरोध में तब तक खड़ी रहेगी, जब तक दलितों में जातिगत जागृति, स्वत्वभाव, आत्मसम्मान, अस्तित्व अन्य जातियों के समान नहीं हो जाता है। सर्वप्रथम, डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने दलितों को जाग्रत करने के लिए सामाजिक राजनीतिक आर्थिक और धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकारों हेतु दलित आन्दोलनों में भाषणों के माध्यम से खुलकर आवाज उठाई। उन्होंने समाज के पिछड़े और तिरस्कृत लोगों पर लेख लिखे और पुस्तकें भी लिखीं, साथ ही दलितोत्थान के लिए संविधान में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों को सम्मानजनक अधिकार दिये। वैसे ही सहानुभूतिक या गैर-दलित उपन्यासकारों ने दलित पीड़ा को अपने उपन्यासों में बाखूबी उजागर किया है, लेकिन उसे स्वानुभूतिक दलित उपन्यासकारों ने दलित पात्रों के माध्यम से या स्वयं भोगी गई पीड़ा को धार्मिक चेतना के रूप में वर्णसत्ता को उधेड़कर चिंदी-चिंदी कर दिया। अतः हिन्दी दलित उपन्यासों में धार्मिक चेतना दलित जीवन के विभिन्न आयामों को स्पर्श करती हुई समाज में उदांत प्रभाव छोड़ती है।

मूल शब्द: दलित चेतना, स्वतत्व, तिरस्कृत, स्वानुभूतिक दलित उपन्यासकार, वसुधैव कुटम्बकम, अस्तित्व, उदांत, विनष्ट, दिकभ्रमित, धर्मविहीन, बप्तिस्मा, देवदासी, धार्मिक सौहार्द।

प्रस्तावना:

हिन्दी दलित साहित्य में गैर-दलित लेखकों की अपेक्षा दलित लेखकों ने दलितों की सामाजिक चेतना, राजनीतिक चेतना, आर्थिक चेतना और धार्मिक चेतना को मुख्य आधार

मानकर आत्मकथा, कहानी, कविता, उपन्यास और अन्य विधाओं में दलितों के प्रतिरोध को बड़ी प्रखरता के साथ चित्रित किया गया है। विश्व में सनातन धर्म के अनुयायी अपने आराध्य व ईष्ट को मनाने के लिए कई तरह की भक्ति और तप करते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए तप करते सन्त, ऋषियों को देखा जा सकता है। देश की पवत्रि नदियों; गंगा, यमुना, सरस्वती, गोदावरी आदि में पवित्र शाही स्नान करने के साथ ज्ञान, अज्ञान में हुए पापों को धोते हुए तर्पण करते हैं। कुम्भ और महाकुम्भ में एक ही घाट पर बिना छूआछूत, बिना किसी भेदभाव के एक समूह में स्नान करते हुए धन्य पाते हैं। महाकुम्भ में सनातन संस्कृति के भव्य दर्शन होते हैं। दलित उपन्यासों के पन्नों को उलटकर देखने पर प्रतीत होता है कि प्राचीन धार्मिक मान्यताओं और परम्पराओं को आधुनिक शिक्षित दलितों ने चुनौती देना शुरू कर दिया है।

दलित चेतना भारत की धर्म आधारित सांस्कृतिक सत्ता को अनवरत प्रभावित करती आ रही है, दलित हिन्दू धार्मिक आस्थाओं और मान्यताओं पर जिस तरह व्यंग्यात्मक आघात करते आ रहे हैं, उस दृष्टिकोण से हिन्दू धर्माचार्यों के लिए यह विषय विचारणीय होना चाहिए। 'रेशनलिज्म' के अनुवादक दलित लेखक कँवल भारती कहते हैं कि- "आपकी अपनी चेतना आपको नियंत्रित करती है, ईश्वर या धार्मिक लोग नहीं। जो मैं कहता हूँ, उसे सीधे स्वीकार किए बिना केवल वही स्वीकार करो, जो आपको सही लगे; और बाकी को अस्वीकार कर दो।"[1] इसी को अनिवार्यतः बौद्धिक कर्तव्य बताया गया है।

डॉ. धर्मवीर के विचारों को लेकर लेखक जयप्रकाश कर्दम का मत है- "प्रश्न उठता है कि क्या इस तरह का आचरण करने वाले लोगों को बाबा साहब का अनुयायी अथवा अम्बेडकरवादी कहा जा सकता है? समाज का एक अन्य वर्ग है, जो कहता है कि हम बाबा साहब को तो मानते हैं, लेकिन बुद्ध को नहीं मानते। इस वर्ग के कुछ बद्धिजीवियों का यह भी कहना है कि बौद्धधर्म दलितों की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं करता। सिद्धार्थ की समस्या एक राजकुमार की समस्या थी, दलित दर्द की अनुभूति उसे नहीं थी। इसलिए सिद्धार्थ अर्थात गौतम बुद्ध का धर्म दलितों के लिए उपयुक्त नहीं है। इनकी राय में दलितों का अलग धर्म होना चाहिए।"[2]

सवर्णों ने बहुसंख्यक जाति की आस्थाओं को खण्डित कर उन्हें धर्मविहीन कर दिया। 'छप्पर'उपन्यास के नायक चन्दन ने अपनी बिरादरी के लोगों से कहा- "यदि आपकी बात सच मान ली जाए कि ईश्वर है, तो आप ही देखिए कि वह कितना अन्यायी और निदर्यी है। तुम लोग जिस ईश्वर को मानते हो, उसकी पूजा-अचर्ना करते हो, उसको प्रसन्न रखने के लिए भेंट चढ़ाते हो, उसे तुम पर तनिक भी दया नहीं आती है और वह तुमको पशुवत और नारकीय जीवन जीने को बाध्य करता है। तब तुम ही सोचो कि यदि ईश्वर है भी तो ऐसे ईश्वर को क्यों

माना जाए? उसकी पूजा-अर्चना क्यों की जाए? जो ईश्वर तुम्हारा भला नहीं करता बल्कि बुरा करता है, उसको मानने का कोई औचित्य नहीं है।"[3] आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म को मिथक बताता है, वह मनुष्य को दुनिया की सबसे बड़ी सत्ता सिद्ध करने का प्रयास करता है।

दलितों को हिन्दू धर्म के अन्तर्गत सम्मान व बराबरी के अवसर नहीं मिले। शायद, धर्म परिवर्तित कर उन्हें ईसाई पंथ में वे सभी अधिकार व अवसर मिलेंगे और उन्हें दलित जन्मजात कर्म से छुटकारा भी मिलेगा। दलित उपन्यासकार मदन दीक्षित अपने 'मोरी की ईंट' उपन्यास में चित्रण करते हैं, इसका। धर्म परिवर्तन के पश्चात दलितों को महसूस हुआ कि सवर्णों में ऊँची जाति वाले लोग स्वयं के स्वार्थ हेतु अपने बच्चों को क्रिस्टान बनाने के लिए मिशन स्कूलों में भेजते थे, समाज में श्रेष्ठ होने के कारण उनकी जात पर कोई फर्क नहीं पड़ता था। लेकिन मेहतर और अछूत जातियों वाले बच्चे क्रिस्टान बनने के बाद भी अछूत ही रहे, उन्हें कदम-कदम पर अछूत का दंश क्यों झेलना पड़ा? खैराती ने जबाब दिया- "लेकिन यह है कि धर्म छोड़ दिया मगर जात ने फिर भी पिंड नहीं छोड़ा।"[4] उनका धर्म परिवर्तन एक छलावा निकला, क्योंकि उनके गले में मेहतरियत पट्टा हमेशा लटका रहा।

देश आजाद हो गया लेकिन दलितों को आजादी नहीं मिली। जब भी वे मन्दिरों के चमकते हुए कलश की तरफ देखते तो उनके मन में बार-बार यही सवाल उठता कि- "क्या हमारे हिस्से में देवी-देवता नहीं हैं, हमारे कौन से देवी-देवता हैं, हम किनकी पूजा करें, न मंदिरों में उनके लिए प्रवेश है और न मस्जिदों में। क्या वे इंसान नहीं। उन्होंने आखिर कौन सी गलती की है, उन्हें मंदिरों में प्रवेश को इजाजत क्यों नहीं है। जब कभी भी उसे वक्त मिलता वह इसी तरह की बाते सोचता। उन पर मनन करता। रामलाल जी उन्हें अच्छे लगते थे, पर वे आर्य समाजी क्यों बने। एक बार उन्होंने पूछा भी था रामलाल जी से। रामलाल जी ने जबाब में कहा था- "बंसी पानी जब सड़ जाता है, तो उसकी सफाई करनी पड़ती है। बस तुम ऐसे ही समझ लो।' पर बंसी को यह बात ठीक नहीं जँची थी। पानी पानी है और धर्म धर्म। पानी तो सड़ सकता है, पर धर्म कैसे सड़ सकता है।"[5]

स्कूल में कक्षा से बाहर निकलकर हबीबुल्ला और सुनीत मंदिर को देखना चाहते थे। वे मंदिर पहुँचे तो उन्हें देखकर स्कूल अध्यापक शिवानंद शर्मा ने दोनों से क्रोध में कहा- "एक मांस काटने वाला और दूसरा मांस खींचने वाला। हे भगवान सत्यानास हो तुम्हारा। हमारा तो मंदिर ही भ्रष्ट कर दिया। अध्यापक के इस व्यवहार से दोनों स्तब्ध थे। सुनीत सोचने लगा- क्या मंदिर उनके लिए नहीं है।"[6] मंदिर से अपमानित होकर सुनीत स्वयं से सवाल जबाब कर रहा था कि 'आखिर मंदिर किसके लिए है?' इन मंदिरों का अस्तित्व क्या है? उन्हें मंदिर में प्रवेश क्यों नहीं है?

हिन्दू धर्म के अनुसार देवदासी अनुष्ठान धार्मिक उत्सव के रूप में मनाया जाता है। औरतें जब देवदासी बन जाती है तो विराट आध्यात्मिकता और देवदासी की देह से बनते रिश्तों में धर्म कहीं आड़े नहीं आता है। पार्वती कहती है कि- "देवदासी को कोई भी रखे, देवता कुपित नहीं होते थे। पर दलित समाज की कोई लड़की देवदासी न बने, तब वे नाराज हो जाते थे। देवदासी को विवाह करने की मनाही थी, पर देवदासी के साथ दस-दस लोग संभोग करें, न पत्थर के देवताओं को एतराज था और न शंकराचार्यों को। शायद दुनियां के किसी धर्म में ऐसा विधान न था। कुंवारी और जवान लड़कियों को देवदासी बनाने के साथ जवान लड़कों को भी जोगता बना दिया जाता था। पत्थर के देवताओं से लेकर हाड़मांस के पुजारियों, पुरोहितों, जमीदारों, पटेलों से मैं रोज बात करती थी। वे मेरी देह पर दस्तक देते, मेरे अंगों को सहलाते, भोगते और प्रसाद पाकर चले जाते। एक दिन मैंने शंकराचार्य को पत्र लिखा था। तुम हिन्दू धर्म मठ के सबसे बड़े स्वामी हो। मुझे मुक्ति दिलाओ। मुझे अबला से सबला बनाओ। मठ से कोई जबाब नही मिला।"[7]

अजय नावरिया ने अपने उपन्यास 'उधर के लोग' में धर्म सत्ता-विर्मश का चित्रण करते हुए लेखक ने कहा कि- "धर्म हमारे समाज की जरूरत है, मिस्टर बेबर। मैं, कहना चाहता था कि हम सभी, व्यक्तिगत रूप में नास्तिक भी हो सकते हैं, परन्तु धर्महीन होकर न जी सकते हैं, न मर सकते हैं। हमारे चाहने, न चाहने के बावजूद हमारा एक धर्म है, जिसमें हम पैदा हुए हैं और मरेंगे भी। ईश्वर हमारी सामाजिक जिंदगी में तुच्छ और नग्यण हो सकता है, पर धर्म हमारी पूरी सामाजिक जिंदगी को प्रभावित करता है, कभी-कभी तय भी करता है। धर्म होने के बाद हम धर्म को न मानने का दावा करने के लिए खुले होते हैं, परंतु उसकी भी पहली सीढ़ी धर्म का होना है।"[8]

भारत विविध संस्कृतियों और विभिन्न धर्मावलम्बियों वाला देश है, जिसमें हिन्दू सबसे शान्त प्रिय और सहनशील माने जाते हैं। लेखक ने बनवारीलाल वाल्मीकि से कहा कि- "आप हिन्दू हैं? मैं खुद को रोकते-रोकते हुए भी बोल पड़ा। मैं जानता था कि जिस हिन्दू धर्म को देश की सर्वोच्च बुद्धि परिभाषित न कर सकी हो तो ये अदने से जीव किस खेत की मूली हैं। हाँ... बनवारीलाल हिन्दू हैं...गर्व से कहो हम हिन्दू हैं। वह मुटठी बाँधकर नारे की भाषा में चिल्लाए। आस-पास अंधेरा भरने लगा था बाहर का। 'और जाटव-वाल्मीकि?' मैंने अपनी बात रखने की भूमिका बनाई। 'सीधे बोलो चूहड़े-चमार...वे हरिजन होते है।' उनके कहने में घृणा थी। 'मतलब वे हिन्दू नहीं होते?' 'होते हैं' पर छोटी जात के...दूसरे हिन्दू होते हैं उनके कहने में उपेक्षा थी। 'तब बामन-ठाकुरों के साथ तो आपकी बराबरी होगी?' नहीं वे तो हम से बडे, हैं...हम तो परजा हैं।' उनके कहने में समर्पण था। मतलब उनकी नजर में आप हरिजन हुए।"[9]

श्रीयुत इन्द्रबसावड़ा की कथाकृति 'घर की राह' के संपादक सत्यकाम ने आजादी के पूर्व दलितों की यथास्थिति का जीवंत वर्णन किया गया है। इसमें धार्मिक चेतना का प्रभाव समाज के लोगों पर सीधा पड़ता है। डॉ. बिसुनसहाय कायस्थ हैं, वह एक अनाथ टूँडा को आश्रय देना चाहते थे। यह सुनते ही उनकी पत्नी और पूरा सभ्रांत समाज बिफर गया- "अन्नदाता! ऐसा न होना चाहिए।"- एक देवता बोले। 'मालिक' हमार धरम भिरस्ट भवा जात है!"[10]

एस.आर. हरनोट ने 'हिडिम्ब' उपन्यास में धार्मिक उत्सव के दौरान विद्रोह की भावना का चित्रण किया है। प्राचीनकाल से ही हम पर्वों को परम्परागत एवं धार्मिक विधियों के अनुसार ही मनाते आ रहे हैं, बाबा के बाद 'काहिका' उत्सव तीस बरस बाद होने जा रहा था, उसमें उसे बुलावा दिया गया। उसे पशुओं वाली झोंपडी में ठहरा दिया गया, खाने के लिए सिल्वर की टेढ़ी-मेढ़ी थाली में दाल, चावल और चार सूखी रोटियां परोसकर दूर दरवाजे पर रख दी गयीं। सोने के लिए पुराना खारचा और मंजरी दे दी थी। इस व्यवहार से शावणू ने व्यग्र होकर कहा- "अपणे लोगों को बोलणा कि मैं चला गया। घर से फालतू नी हूं मैं। गरीब हूं, इसका मतलब ये नी होता कि मैं कुत्ते की तरह अंधेरे में पड़ा रहूं। मेरो को तुम्हारी जरूरत नी है। तुम्हारे को है मेरी। बोल देणा देवता के कारकूनों को मैं यहां अपणी ऐसी-तैसी किराणे नी आया... हां बोल देना।"[11]

'सूअरदान' उपन्यास के नायक सज्जन खटीक ने मीटिंग में हिन्दुओं के प्रसिद्ध धार्मिक पर्वों को मनाने के लिए उदगार व्यक्त किए- "हमें अपने त्योहार होली और दीपावली बड़ी शालीनता से मनाने होंगे।" दूसरे सदस्य ने कहा- "इससे हमारी पुरानी परम्पराएं जो सदियों से चली आ रही हैं प्रभावित होंगी, हमारी धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचेगी।" "भावनाएं तभी रहेंगी, जब मानव प्रजाति बचेगी। हम होली में अरबों-खरबों टन लकड़ी फूंक देते हैं। इससे वातावरण बहुत ही गरम हो जाता है। ग्लोबल वार्मिंग का खतरा बढ़ रहा है। हिन्दुस्तान के प्रत्येक गाँव, कस्बों और शहरों में रावण जलाया जाता है। इससे भी पृथ्वी का तापमान तो बढ़ता ही है और दक्षिण भारत के लोगों का अपमान भी होता है, क्योंकि रावण को दक्षिण भारत के लोग अपना पूर्वज मानते हैं। इससे दलितों का भी अपमान होता है। "क्या दीपावली भी मनाना बन्द कर दें।"[12]

समाहार- हिन्दी दलित उपन्यासों में व्याख्यायित दलितों पर धार्मिक चेतना का सीधा प्रभाव पड़ा। हिन्दू धर्म की मान्यताओं के अनुसार पूर्व जन्म में किए गए कर्मों के आधार पर ही ऊँची-नीची जातियों में जन्म माना जाता है। यानि, जाति स्वयं भगवान का ही करिश्मा है। समझना मुश्किल नहीं होगा कि दलितों की मुक्ति का मार्ग गुलामी का शाश्वत प्रावधान था। इस व्यवस्था का परिणाम यह रहा कि जहाँ सवर्ण समाज को बिना किसी पश्चाताप भाव के दलितों का शोषण करने का बहाना मिल गया, वहीं दलितों के लिए शिकायत का मौका भी नहीं

रह गया। दलितों की धार्मिक चेतना कुंद करने की सभी युक्तियां सवर्णों ने बनाई और हजारों सालों तक दलितों को धार्मिक क्रिया-कलापों में भाग लेने से वंचित रखा गया। समाज में दलितों को कर्म से इस तरह बांध दिया गया कि धर्म परिवर्तन के बावजूद उनकी मुक्ति का मार्ग अवरूद्ध ही रहा। इसमें कोई संदेह नहीं कि बौद्ध, इस्लाम, सिक्ख और ईसाइयत में वर्णाश्रम को नैतिक समर्थन प्राप्त नहीं है। धर्म तो बदल गया लेकिन उनके कर्मानुसार पूर्व की जाति नहीं बदली। नाम बदल गया लेकिन पूर्व जाति का पट्टा उनके गले में बदश्तूर लटका रहा। दलित जैसे-जैसे शिक्षित होते गए, उनकी विचारधारा में भी परिवर्तन आने लगा और दलित लेखकों ने स्वीकार भी किया कि डॉ. भीमराव अम्बेडकर का बुद्धानुराग सिर्फ एक धर्म की तलाश के रूप में नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा होता तो ईसाई, इस्लाम या सिख धर्म में भी दलितों से रिश्ता बना सकते थे, पर ऐसा नहीं हुआ। इसके विपरीत वे बौद्धधर्म के प्रति अनुराग रखते थे। परन्तु बौद्ध धर्म भी दलितों की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं करता है, इसलिए दलित अलग धर्म का राग अलापते दिखाई पड़ते हैं। और कुछ दलित तो नास्तिकता की चर्म सीमा को भी लांघते दिखाई देते हैं। वैसे हिन्दू धर्म के कुछ कुकर्मी महात्माओं और दकियानूसी सोच वाले ब्राह्मणों ने बहुसंख्यक गरीब दलितों को अंधविश्वास, ढ़कोसलों और झूठे प्रपंचों में फंसाकर उनका शोषण किया, जिससे दलित धन-दौलत से कटकर, मान-सम्मान से तो कट ही गये थे और उनकी उन्नति के रास्ते भी बंद हो गए थे। वे रास्ते दलितों ने स्वयं संघर्षकर खोले। उन्होंने अहितकर संस्कारों की तिलांजलि देकर नए ज्ञान-विज्ञान और तकनीकी शिक्षा के माध्यम से समाज में प्रतिष्ठित स्थान बनाने की कवायद शुरू की है।

संस्तुति

हिन्दी दलित उपन्यासों में पात्रों द्वारा भोगे गए यथार्थ को धार्मिक चेतना के सापेक्ष पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। दलितों की धार्मिक पीड़ा स्वतंत्रता के पश्चात यदा-कदा सामने आ ही जाती है। समाज के समग्र विकास के लिए सभी ने 'महाकुम्भ' की तरह धार्मिक अनुष्ठानों और अन्य क्रिया-कलापों में भी वर्णगत समानता के भाव का आदर होना चाहिए। साथ ही सवर्णों ने दलितों की धार्मिक पीड़ादायक संवेदना को समझना चाहिए, जिससे सनातनियों की एकजुटता का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सके। तभी भारत में धार्मिक सौहार्द सहित सभी का साथ, सभी का विकास और सभी के विश्वास का मंत्र विश्वपटल पर नए आयाम स्थापित करने में सार्थक सिद्ध होगा।

संदर्भ-

1. पेरियार ई.वी. रामासामी, सं. प्रमोद रंजन: जाति व्यवस्था और पितृसत्ता, संस्करण 2022, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, पृ. 20
2. जयप्रकाश कर्दम: हिन्दुत्व और दलित, प्रथम संस्करण 2012, सागर प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 13
3. जयप्रकाश कर्दम: छप्पर, पहला संस्करण 1994, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 21
4. मदन दीक्षित: मोरी की ईंट, पहला संस्करण 1996, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 39
5. मोहनदास नैमिशराय: मुक्तिपर्व, प्रथम संस्करण 2002, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 49-50
6. मोहनदास नैमिशराय: मुक्तिपर्व, प्रथम संस्करण 2002, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 111
7. मोहनदास नैमिशराय: आज बाजार बंद है, संस्करण 2004, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 91
8. अजय नावरिया: उधर के लोग़ प्रथम संस्करण 2008, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 126
9. अजय नावरिया: उधर के लोग़ प्रथम संस्करण 2008, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 175
10. श्रीयुत इन्द्रबसावड़ा संपादक सत्यकाम: घर की राह, प्रथम संस्करण 2018, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 32-33
11. एस.आर. हरनोट: हिडिम्ब, प्रथम संस्करण 2008, आधार प्रकाशन, पंचकुला, पृ. 213
12. रूपनारायण सोनकर: सूअरदान 2010, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 149-150